प्रथम अध्याय

विषय परिचय

प्रथम अध्याय
विषय परिचय

1.1 भारतीय संगीत के प्रकार

आधुनिक काल में भारतीय संगीत में कई प्रकार प्रचार-प्रसार में रहे हैं | जैसे कि उत्तर भारतीय/ हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत, दक्षिण भारतीय/ कर्नाटकी शास्त्रीय संगीत, उपशास्त्रीय संगीत, विविध प्रादेशिक लोक-संगीत, सुगम संगीत, फिल्म संगीत, भक्ति संगीत आदि | कुछ प्रकार प्राचीन काल से चली आ रही परंपरा का आधुनिक रूप हैं, कुछ का उद्भव मध्य युग में हुआ तथा कुछ संगीत प्रकारों का आधुनिक युग में ही उद्भव हुआ है | इन संगीत के प्रकारों को प्रस्तुत करते समय सांगीतिक व्याकरण और राग-तालादि के नियमों को किस सीमा तक पालन किया जाता है उसके आधार पर तीन वर्गों में स्थूल रूप से वर्गीकृत किया जा सकता है :

1) शास्त्रीय संगीत

2) मुक्त संगीत

3) उपशास्त्रीय संगीत

1. 1. 1 शास्त्रीय संगीत

यह संगीत 'राग-तालादि के नियमों' से बद्ध होता है और इसका प्रस्तुतीकरण पूर्णत: 'सांगीतिक व्याकरण के कड़े पालन' से ही करना आवश्यक है | विशेष शिक्षा-दीक्षा और अभ्यास का नितांत महत्व रहता है | इस संगीत के माध्यम से होनेवाले भाव-प्रदर्शन और रसोत्पत्ति को ग्रहण करने के लिए अर्थात इसका श्रवण-आनंद लेने के लिए श्रोता को संगीत के कुछ मूलभूत नियमों का ज्ञान होना आवश्यक है | इसके प्रस्तुतीकरण में शब्दों का महत्त्व प्राय: स्वर और लय से कम हो जाता है | इसलिए शब्द-सौंदर्य का रस्निश्पत्ति में बिलकुल बराबर का योगदान नहीं होता , शब्दों का स्थान स्वर और लय से कुछ गौण माना जाता है | भारतीय उपखंड में शास्त्रीय संगीत के दो प्रकार पाए जाते हैं :

1. उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत/ हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत

2. दक्षिण भारतीय शास्त्रीय संगीत/ कर्नाटकी शास्त्रीय संगीत

1. 1. 2 मुक्त संगीत

इस वर्ग के संगीत के अंतर्गत वे सारे प्रकार आ सकते हैं जिनके प्रस्तुतीकरण के समय पारंपरिक भारतीय शास्त्र्ीय संगीत के 'राग-तालादि' के नियम और सांगीतिक व्याकरण का पालन करने की प्रथा नहीं है | इसका आनंद लेने के लिए किसी प्रकार के विशेष सांगीतिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती | अत: सभी तरह के श्रोताओं के ह्रदय को आनंदित करने की शमता इस प्रकार के संगीत में होती है | इस संगीत में स्वर, लय और शब्द इन तीनों घटकों का स्थान रस-निष्पत्ति की दृष्टी से बराबर का महत्वपूर्ण होता है | मुक्त संगीत के कई प्रकार हमारे देश में पाए जाते हैं :

लोक-संगीत **ग़ज़ल**

भक्ति-संगीत **क़व्वाली**

सुगम-संगीत **फ्यूज़न**

फिल्म-संगीत **इत्यादि** |

1.1.3 उपशास्त्रीय संगीत

इस वर्ग के संगीत की स्थिति उपरोक्त दोनों वर्गों के बीच की रहती है | इस वर्ग के संगीत प्रकारों के प्रस्तुतीकरण में शास्त्रोक्त नियमों का आधार अवश्य लिया जाता है किन्तु यथायोग्य स्थान पर भाव-प्रदर्शन और रसोत्पत्ति के हेतु उन नियमों का लंघन करने का प्रघात दृष्टिगोचर होता है | इनमें राग-तालादि नियमों में शिथिलता होना एक सामान्य घटना है | सामान्यत: स्वर, लय और शब्दों की स्थिति एकदूसरे के पूरक के जैसी होती है | सांगीतिक सौन्दर्य के साथ ही शाब्दिक सौन्दर्य का आनंद भी श्रोता को प्राप्त होता है | उदाहरण :

1) ठुमरी

2) टप्पा

3) भजन-भक्तिपद

4) मराठी नाट्य-संगीत

इस वर्ग के संगीत के प्रस्तुतीकरण की 'उपशास्त्रीय' पद्धति को कई बार मुक्त संगीत के कुछ गीत प्रकारों के साथ प्रयुक्त किया जाता है तब वे गीतप्रकार भी 'उपशास्त्रीय' पद्धति के या 'उपशास्त्रीय' अंग से गाए-बजाए हुए कहलाते हैं जैसे कि लोक-संगीत के कजरी, चैती, झूला जैसे गीतों को 'उपशास्त्रीय' विधा ठुमरी के कलाकारों द्वारा परिष्कृत करकर विस्तार से गया-बजाया जाता है | वर्तमान समय में तो इन्हें 'ठुमरी' गीत विधा के अंतर्गत ही माना जाता है |

1. 2 उपशास्त्रीय विधा ठुमरी

इन सब में आधुनिक काल में 'ठुमरी', जो कि उपशास्त्रीय संगीत की एक विधा है, बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुकी है | ठुमरी गायकी अपने रसीलेपन, रंगीनी, काव्यात्मक प्रकृति तथा गले की विशिष्ट तैयारी आदि के चलते जनसामान्य की रसिकता को रिझाने में बहुत ही परिणामकारक हुई है | साथ ही साथ, आधुनिक विद्वानों के प्रयत्न और शिक्षण के प्रचार-प्रसार से, इस गायकी के प्रति सुसभ्य समाज में जो उदासीनता का तथा हीनता का भाव था वह भी नष्ट हो चला है | अब इसे सम्मानपूर्ण विधा का स्थान मिल चूका है |

ठुमरी विधा के उद्भव के सन्दर्भ में प्रवर्तमान समय में जो संशोधन हुए हैं उससे यह अनुमान किया जाता है कि ठुमरी के मूल प्राचीन काल से भारत में अस्तित्व में रही हुई देशी संगीत की श्रृंगारिक और सुकुमार 'चर्चरी' प्रबंध की विधा में रहे होंगे |[1] कालांतर में 'चर्चरी' प्रबंध 'चर्चरी' प्रबंध में बदलाव आते गए | मध्ययुगीन राजनैतिक परिबलों के कारण भारतीय संगीत में बहुत गहरे परिवर्तन हुए | इस परिवर्तन के प्रवाह में प्राचीन 'चर्चरी' का रूपांतर 'चच्चरी' में होते-होते अंत में 'चाँचरी' में हो गया | इन्हीं चाँचरी प्रबंधों के आधार पर उत्तर मध्ययुग में 'ठुमरी' के प्रारम्भिक स्वरुप का उद्भव हुआ होगा | इस प्रारंभिक 'ठुमरी' का उपयोग नृत्यगीत के जैसे ही होता था | कालांतर में शास्त्रीय संगीत एवं लोक-संगीत के प्रभावों के चलते 'ठुमरी' को आज का आधुनिक स्वरुप प्राप्त हुआ है |

वर्तमान समय में, 'ठुमरी' को 'उपशास्त्रीय' विधा का स्थान दिया जाता है | इसके अंतर्गत एक से अधिक गीत प्रकारों का समावेश किया जाता है, जैसे कि ठुमरी, होली दीपचंदी, चाँचर, दादरा तथा कजरी, चैती, झूला जैसे लोक-संगीत से अपनाए हुए प्रकार |

ठुमरी शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में कहा जाता है कि ब्रज भाषा के शब्द **'ठुमकना'** से आए **'ठुम'** शब्द के साथ **'री'** के जुड़ने से '**ठुमरी**' शब्द की रचना हुई होगी | 'ठुमकना' या 'ठुमक' शब्द केवल ब्रज भाषा ही नहीं बल्कि हिन्दी से अन्य सम्बंधित भाषाओँ में भी प्रयुक्त होता है जिसका साधारण अर्थ 'सुन्दर पदन्यास' या ' कटि और पद के ताल-मेल से किया गया विशिष्ट अंग-विक्षेप' ऐसा होता है, जो की नृत्य की एक क्रिया भी है | यह इस

[1] शुक्ल श. (1991). *ठुमरी की उत्पति, विकास और शैलियाँ.* नई दिल्ही : हिन्दी माध्यम निदेशालय कार्यन्वय, दिल्ली विश्वविद्यालय. पृष्ठ 121

बात क ओर संकेत करता है कि ठुमरी का सम्बन्ध नृत्य से रहा होगा | संशोधनों से यह प्रस्थापित हो चूका है कि ठुमरी की प्रारम्भिक अवस्था में वह 'नृत्य गीत' के रूप में ही उपयोग में लाइ गई थी |

आचार्य बृहस्पति कहते हैं –

"ठुमरी शब्द के 'ठुम' और 'री' दो अंश हैं | 'ठुम' ठुमकने का द्योतक है और 'री' अन्तरंग सखी से अपने अंतर की बात कहने का द्योतक है | " [2]

डॉ. सुशीला पोहनकर के अनुसार –

" 'ठुमरी' शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई विद्वानों के मत करीब-करीब समान है | 'ठुमक' या 'ठुम' शब्द से 'ठुमरी' शब्द की उत्पत्ति मानते हैं | 'ठुम' से मतलब है ठुमकना जिसका सम्बन्ध चाल से है जैसे ठुमकते हुए चलना | गोस्वामी तुलसीदासजी के 'ठुमक चलत रामचंद्र' इस भजन में हमें इस शब्द का स्पष्ट संकेत मिलता है | 'री' शब्द संबोधन के लिए प्रयुक्त सम्बोधनवाचक शब्द है | जनसाधारण की बोली में अ री, ए री, री, हे, हे री जैसे संबोधनात्मक शब्द बहुत उपयोग में लाये जाते हैं | अत: इस पूरे शब्द का अर्थ नृत्य के साथ गाया जानेवाला गीत 'ठुमरी' है |" [3]

यह संगीत शैली मूल रूप से उत्तर भारत के "कथक" नृत्य से संबंधित थी और नृत्य के साथ गाने का इस्तेमाल किया गया था। बदलते समय के साथ, यह शैली नृत्य से अलग हो गई और अपने आप विकसित हुई। इसके साहित्य में मुख्य रूप से मध्ययुगीन काल की विशिष्ट महिला पात्र-नायिका, ब्रज में गोप-गोपियों के साथ कृष्ण-लीला, बरसात के मौसम या वसंत ऋतु जैसे होली त्योहार आदि का वर्णन है। ज्यादातर श्रृंगार रस पर आधारित साहित्य होता है | किन्तु क्वचित कहीं करुण रस का निर्वाह भी दृष्टिगत होता है |

गीत में चित्रित भावनाओं को व्यक्त करने के उद्देश्य से, शब्दों-बोलों और स्वरों के माध्यम से गीत में विस्तार के तरीके पर आधारित, ठुमरी विधा में दो प्रकारों का वर्णन किया गया है: (1) बोल-बाँट ठुमरी और (2) बोल-बनाव ठुमरी ।

---

[2] बृहस्पति, आ. (मई 1991). *ठुमरी में सनातन सांगीतिक तत्व.* संगीत कला विहार ठुमरी विशेषांक. मिरज: अखिल भारतीय गान्धर्व महाविद्यालय मंडल प्रकाशन. पृष्ठ 110.

[3] पोहनकर, सु. (मई 1991). *ठुमरी गायन शैली में "लोकसंगीत" के तत्व.* संगीत कला विहार ठुमरी विशेषांक. मिरज: अखिल भारतीय गान्धर्व महाविद्यालय मंडल प्रकाशन. पृष्ठ 96.

1.2.1 बोल-बाँट ठुमरी

इस ठुमरी में शब्द- बोल और स्वरों को अलग-अलग संयोजनों में संयोजित किया जाता है और ताल के अनुसार बोल विभाजित होते हैं- बाँट। 'बंदिश की संरचना का उपयोग करके सुन्दर सांगीतिक आकृति का निर्माण' इस ठुमरी की मुख्य विशेषता है, जिसे **बंदिश की ठुमरी** के नाम से भी जाना जाता है। यह लखनऊ के पश्चिम में स्थित क्षेत्र यानी फ़र्रुख़ाबाद, दिल्ली, इटावा, रामपुर, बरेली, मथुरा आदि में अधिक प्रचलित था, इसलिए इसका नाम 'पच्छाही ठुमरी' पड़ा। पश्चिम उत्तर प्रदेश के ब्रज, बुंदेलखंड प्रान्तों के होली, रसिया, सावन, लेद आदि ने इस ठुमरी को प्रभावित किया है, लेकिन पारंपरिक घराने के गायक, सितारवादक और कथक नर्तकों ने भी इसके विकास में योगदान दिया है। इसलिए पारंपरिक राग-संगीत ने भी बोल-बांट ठुमरी को प्रभावित किया है। इसमे बंदिश बहुत ज्यादा महत्व रखता है। इसलिए बंदिश की संरचना काफी अच्छी तरह से बुनी हुई, कलात्मक और लयात्मक होती है। बंदिश का स्पष्ट उच्चारण, अभिव्यंजक सस्वर पाठ, बोल-विस्तार और कभी-कभी इस्तेमाल की जाने वाली छोटी बोल-तान मुख्य शैलीगत अलंकरण हैं। इससे अधिक की सिफारिश नहीं की जाती है।

उदाहरण .:

राग भैरवी

ताल- त्रिताल

रचनाकार- सनदपिया

स्थायी-- अब तोरी बाँकी लोअनिया री

अब तोरी बाँकी चितवन मेरो मन

बस कीनो प्यारी प्यारी बतिया करके

अंतरा-- सनद कहे मोरा जिया नहीं माने

डार दिनो मोप जादू सा कछू करके | [4]

[4] *भारतीय संगीत की कुछ ख्यातनाम ठुमरियाँ.* (मई 1991). संगीत कला विहार ठुमरी विशेषांक. मिरज: अखिल भारतीय गान्धर्व महाविद्यालय मंडल प्रकाशन. पृष्ठ 174.

1.2.2 बोल-बनाव ठुमरी

इस ठुमरी की मुख्य विशेषता है, गीत में निहित भावनाओं को व्यक्त करने के लिए बंदिश के बोल और स्वरों का आलप्ति करके उपयोग करना। यह बोल बनाव ठुमरी की तुलना में लोक तत्वों से अधिक प्रभावित है । लोक धुन से निकले राग ज्यादातर मौजूद होते हैं । साहित्य में ज्यादातर ब्रजभाषा, अवधी, और भोजपुरी आदि बोलियाँ या उनका मिश्रण है। ज्यादातर वे धीमी लय में होती हैं और ताल में विलंबित दीपचंदी, जत, पंजाबी आदि होते हैं। इसी श्रेणी में दादरा गीत हैं, जो मध्य विलम्बित या मध्य लय दादरा या कहरवा में प्रस्तुत किए गए हैं । ये बंदिशें छोटी और सरल हैं और आम तौर बोल बनाव ठुमरी की तुलना में कम सुगठित और ज्यादा लचीली होती हैं |

उदाहरण .:

राग- मिश्र झिंझोटी

ताल- दीपचंदी

स्थायी-- पिया बिन नाही आवत चैन

कासे कहुँ जी के बैन |

अंतरा-- याद आवत जब हैदर निस दिन

बाँकी रे सूरत तीखे नैन । [5]

बोल बनाव ठुमरी में दो उप-प्रकार हैं: **(i) पूरब अंग (ii) पंजाब अंग**

1. 2. 2.1 पूरब अंग

इस प्रकार की ठुमरी उत्तर भारत के पूर्वी क्षेत्रों में अधिक प्रचलित थी। इसलिए इसे पूरबी या पूरब अंग ठुमरी कहा जाता है । वे पूर्वी क्षेत्र के लोक गीतों जैसे चैती, कजरी, झूला, बारहमासा आदि की धुनों से प्रभावित होते हैं। गीत की भावनाओं को प्रभावी ढंग से व्यक्त करने के लिए अलग-अलग उपकरण जैसे आविर्भाव-तिरोभाव, छायाभास, कण, खटका, मुर्की, मींड, जमजमा, स्वर काकु आदि का उपयोग किया जाता है। पूरब अंग ठुमरी, आलापों और धीमी गति के टेम्पो के सुंदर और आकर्षक प्रस्तुतिकरण के कारण बहुत आकर्षक है। इस प्रकार की

[5] *भारतीय संगीत की कुछ ख्यातनाम ठुमरियाँ.* (मई 1991). संगीत कला विहार ठुमरी विशेषांक. मिरज: अखिल भारतीय गान्धर्व महाविद्यालय मंडल प्रकाशन. पृष्ठ 173.

ठुमरी की गायकी के विकास में भूतकाल में लखनऊ और बनारस इन दो केन्द्रों ने बड़ा योगदान दिया और इनके नाम से क्रमश: ख़ास शैलियाँ जानी जाने लगीं | किन्तु काल क्रम में बनारस क्षेत्र में ठुमरी की गायकी कला का अद्‌भूत प्रमाण में विकास हुआ और पूरब अंग की गायकी के तौर पर बनारस की गायकी प्रसिद्ध हो गई | लखनऊ ठुमरी या लखनऊ गायकी ऐसे कोई विशिष्ट चीज़ का अस्तित्व नहीं रहा, अपितु लखनऊ की भाषाकीय और सांगीतिक विशेषताओं का भी बनारस गायकी में समावेश हो गया और पूरब अंग के रूप में वर्तमान समय में एक ही प्रकार की गायकी का अस्तित्व दृष्टिगोचर होता है | इस सन्दर्भ में बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के संगीत विभाग की डॉ. शारदा जी वेलंकर का मत इस प्रकार है –

ठुमरी का प्रारम्भिक विकास लखनऊ में हुआ, किन्तु उसके गायकी ढंग का सही मायने में विकास जो हुआ वह बनारस और उसके आस-पास के क्षेत्र में हुआ | पूरब अंग की गायकी, जो वर्तमान समय में इतनी प्रसिद्ध है, उसका विकास और प्रचार-प्रसार बनारस की परंपरा रखनेवाले कलाकरों द्वारा ही हुआ है | इस बात को देखें तो वर्तमान में पूरब अंग की ठुमरी और बनारस ठुमरी एक दुसरे के समानार्थी पद माने जायेंगे | [6]

भैया गणपतराव, मौजुद्दीन खाँ, गौहर जान, जानकीबाई, बड़ी मलका जान, शामलाल खेत्री, गिरिजाशंकर चक्रवर्ती, बड़ी मोतीबाई, बड़े रामदासजी, रसूलन बाई, विदुषी सिद्धेश्वरी देवी, विदुषी नैना देवी, पं. गिरिजा देवी, पं. महादेव प्रसाद मिश्र, पं. छन्नूलाल मिश्र, विदुषी सवितादेवी, श्रीमती शोभा गुर्टू, श्रीमती पूर्णिमा चौधरी, डॉ. मंजू सुन्दरम, सुनंदा शर्मा, इन्द्राणी मुखर्जी आदि पूरब अंग ठुमरी के प्रसिद्ध कलाकार हैं |

1.2.2.2 पंजाब अंग

ई.स. 1940 के बाद से, ठुमरी की एक और शैली लोकप्रिय हो चुकी है जिसे पंजाब अंग कहा जाता है। यह पंजाब क्षेत्र की गायकी के पूरब अंग ठुमरी में समावेश का परिणाम है। पटियाला घराने के प्रसिद्ध गायक स्व. ऊ. बड़े ग़ुलाम अली ख़ान ने पूरब ठुमरी में अपने घराने की चपल तानों को तथा अनुपम स्वर-अलंकरण को उल्लेखनीय सहजता के साथ प्रस्तुत करके इस शैली को विकसित किया | ऊ. बड़े गुलाम अली खाँ और उनके भाई ऊ. बरकत अली खाँ ने इस प्रकार की ठुमरी को बहुत विकसित किया और उसे लोकप्रिय बनाया | स्वयं ऊ. बड़े ग़ुलाम अली खाँ ने पूरब ठुमरी से पंजाब अंग के अलग होने की बात का इनकार करके यह कहा है कि उनकी

[6] बनारस हिन्दू विश्वविद्‌यालय के संगीत विभाग में कार्यरत डॉ. शारदाजी वेलंकर से हुई प्रत्यक्ष बात-चीत.

ठुमरी भी पूरब अंग से ही गई जाती है, केवल उसमें कुछ सांगीतिक अलंकरणों का नए से समावेश किया गया है |[7]

ऊ. बड़े ग़ुलाम अली खाँ, ऊ. बरकत अली खाँ, ऊ. मुन्नव्वर अली खाँ, पं. जगदीश प्रसाद, उ. अब्दुल रहमान खाँ, श्रीमती लक्ष्मी शंकर, श्रीमती निर्मला अरुण, पं. अजय चक्रवर्ती आदि पंजाब अंग की ठुमरी के प्रसिद्ध कलाकार हैं |

आधुनिक काल में, बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में उसका शास्त्रीय संगीत के मंचों पर से प्रस्तुतीकरण भी शुरू हुआ | इस कारण से कई घरानेदार ख्याल गायक गायिकाएँ इस विधा में निहित सौन्दर्य तत्वों से प्रभावित होकर इस प्रकार को अपनाने लगे | इसी कारण कई प्रसिद्ध शास्त्रीय कलाकरों ने भी ठुमरी का प्रदर्शन किया, जो कि मूलत: पूरब ठुमरी पर ही आधारित होता था किन्तु उनकी ख्याल गायकी सभी प्रभावित हुआ था | ऐसे गायकों में आगरा घराना के उस्ताद फैयाज़ खाँ, किराना घराना के उस्ताद अब्दुल करीम खाँ के नाम मुख्य हैं |

वर्तमान समय में 'उपशास्त्रीय विधा ठुमरी' इस विधा के अंतर्गत कई गीत प्रकार प्रस्तुत किये जाते हैं | जैसे ठुमरी, दादरा, होली, कजरी, चैती, झूला आदि | देखा जाए तो ये सारे गीतप्रकार एक-दुसरे से साहित्यिक संरचना, सांगीतिक संरचना, प्रस्तुतीकरण, विषयवस्तु, भाषा आदि पक्षों में कुछ अंश में साम्यता रखते हैं और कुछ बातों में एक-दुसरे से भिन्न भी हैं | होली, कजरी,झूला, चैती पूर्वीय उत्तर प्रदेश के लोकगीतों के प्रकार हैं और इनमें पाई जानेवाले माधुर्य से प्रेरित होकर उपशास्त्रीय ठुमरी विधा के पूरब अंग के कलाकारों ने इस शैली में इनका समावेश किया और प्रस्तुतीकरण में लोकगीतों की प्राथमिक शैली के स्थान पर पूरब अंग ठुमरी की शैली का उपयोग किया | ठुमरी और दादरा की शैली में चैती, कजरी, झूला, होली का प्रस्तुतीकरण बीसवीं तथा इक्कीसवीं शताब्दी में यानी की वर्तमान समय में एक सामान्य प्रथा हो चली है | इस शोध प्रबंध के अंतर्गत उपरोक्त सभी गीत प्रकारों को ठुमरी विधा के अंतर्गत माना गया है तथा शोध कार्य के लिए जिनउदाहरणों/ रचनाओं का उपयोग किया गया है उसमें **ठुमरी, दादरा, होली, चैती, कजरी, झूला** इनका समावेश किया गया है |

1.3 'लोक' एवं 'लोकतत्व'

[7] Manuel, P. (1989). *Thumri in Historical and Stylistic Perspective.* Delhi: Motilal Banarasidass. Pg. 89.

'**लोक**' मूलत: संस्कृत भाषा का शब्द है जिसका सामान्य अर्थ 'संसार' या 'जगत' होता है | संदर्भानुसार 'लोक' शब्द के विविध अर्थ होते हैं | जैसे कि –

१) संसार , दुनिया |

२) जगह, स्थान |

३) विश्व का एक विभाग – पृष्ठथ्वीलोक, पाताललोक आदि |

४) किसी देश या स्थान आदि का समाज |

५) जन सामान्य, जनता |

६) (पुराण) किसी देवता का निवास स्थान – विष्णु लोक, शिवलोक आदि | [8]

श्री दुर्गाप्रसाद मुखोपाध्याय लिखते हैं, " **'लोक' शब्द के अंतर्गत वे सभी लोग आते हैं जो एक निश्चित भूभाग में रहते हैं और संस्कृति की साझी विरासत को भली भाँति जानते-समझते हैं | इनकी कुछ स्थायी विशेषताएँ होती हैं जैसे की व्यवसाय, भाषा और धर्म | व्यावहारिक ज्ञान लिखित ग्रंथों पर नहीं बल्कि वाचिक परंपराओं पर आधारित होता है | समूह में संख्या चाहे जितनी भी हो इसमें पहचान और सम्बद्धता की भावना होनी चाहिए | तथाकथित सभ्य लोगों की तुलना में ऐसे समूह के लोगों की जीवन शैली कम व्यवस्थित तथा अधिक परंपरागत और प्राकृतिक होती है |**" [9]

"विलियम बेसकम के अनुसार, लोक-वार्ता का अर्थ लोक-विद्या है जिसमें मुँहके द्वारा संप्रेषित शब्द और वे तमाम कला-कौशल एवं प्रविधियाँ अथवा इनके उत्पाद सम्मिलित हैं, जिनको अनुकरण के द्वारा सीखा जाता है | इनके अनुसार लोक-वार्ता में लोक कला, लोक शिल्प, लोक परिधान, लोक रीति-रिवाज़, लोक मान्यताएँ, लोक औषधि, लोक संगीत, लोक नृत्य, लोक खेल-कूद, लोक हाव-भाव आदि सम्मिलित हैं |" [10]

---

[8] Retrived from http://www.hindisamay.com/content/3159/38/-कोश-वर्धा-हिन्दी-शब्दकोश-संपादन-राम-प्रकाश-सक्सेना.cspx

[9] मुखोपाध्याय, दु. (2011). लोककलाएँ और सामाजिक संवाद, (अनु. तोमर न.). नई दिल्ली : अपर महानिदेशक (प्रभारी), प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार. पृष्ठ 7.

[10] मुखोपाध्याय, दु. (2011). *लोककलाएँ और सामाजिक संवाद*, (अनु. तोमर न.). नई दिल्ली : अपर महानिदेशक (प्रभारी), प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार. पृष्ठ 7.

डॉ. सीमा रानी वालिया ने अपनी पुस्तक 'स्वर वाद्यों के वादन में ठुमरी और धुन' में लोक के विषय में कहा है- "'लोक' सब प्रकार के ज्ञान, विज्ञान और शास्त्रों के रचयिताओं का प्रेरणा स्रोत है। इस की समग्रहा से मनुष्य की धार्मिक, सामाजिकता और नैतिकता आदि के समस्त लक्षण विद्यमान होते हैं। इस प्रकार यह समाज का अति विस्तृत रूप है। संक्षेप में 'लोक' शब्द व्यापक अर्थों का धारणी संकल्प है, जिसमें मानवीय समाज के शिक्षित, अशिक्षित, शहरी और ग्रामीण वह लोग आ जाते हैं जो सरल स्वभाव और सरल कला-कौशल वाले होते हैं और जो किसी प्रकार के बाह्य दिखावे, संकीर्णता और पंडताई-अहं वाली विचार दृष्टि के धारणी नहीं होते। उनका रहन-सहन, व्यवहार, खानपान-, हंसनाखेलना-, नाचना-गाना, मनोरंजन आदि सब सरल और सहज भाव से ही प्रवाहशील होते रहते हैं।"[11]

मानव संस्कृति के इतिहास में सदैव से विकास की दो मुख्य धाराएँ चली आई हैं : 1) समाज के सामान्य स्तर के लोगों की, जनसाधारण की, लोक-संस्कृति और 2) समाज के विशिष्ट स्तर के लोगों की, शिष्टजनों की, अभिजात-संस्कृति | हालाँकि दोनों ही धाराएं मानव जीवन को ही आधार लिए चलती हैं, लेकिन लोक-संस्कृति अपने जन साधारण में विकास को लेकर प्रकृति से कुछ अधिक निकट प्रतीत होती है | अभिजात संस्कृति के विकास के लिए लोक से ही घटकों के यथावकाश एवं क्रमिक परिष्करण की आवश्यकता रहती है |इस लिए लोक-संकृति अभिजात संस्कृति के लिए स्रोत का कार्य करती है | मानव संस्कृति के उदय काल से लेकर आधुनिक काल तक समय-समय पर लोक-संस्कृति के कुछ घटक परिमार्जित/परिष्कृत होकर शिष्टजन या अभिजात संस्कृति में समाविष्ट होते चले आएँ हैं | संस्कृति के घटक जैसे भाषा, साहित्य, कला, धर्म, रीती रिवाज, आचार-विचार , जीवनशैली आदि का विकास भी समानांतर रूप से इसी प्रकार से होता रहा है |

लोकसंस्कृति के उदय और विकास के लिए सामान्यत: ऐसे परिवेश अधिक अनुकूल होते हैं जो संस्कृति के मूल तत्वों को परंपरा के रूप में संजोये रखें और आधुनिकता के प्रभाव के कारण अपने परंपरागत वैशिष्ट्य खोए नहीं | बड़े शहरों के नागरी परिवेश से अधिक गाँवों का प्राकृतिक परिवेश इस के लिए आदर्श है | इसी कारण **लोकसंस्कृति के विकास और परिपोष के क्षेत्र नगरों से ज्यादा गाँवों की ओर देखने को मिलते हैं** | ग्राम्य संस्कृति में लोक संस्कृति के तत्व – 'लोकतत्व' प्रचुरता से अस्तित्व बनाए हुए होते हैं, जैसे कि

*** जीवन की शुद्ध स्थिति- सुख-दु:ख, हर्षोल्लास, राग-विराग आदि का सरल एवं सहज प्रतिबिम्ब**

[11] वालिया, सी. रा. (2016). *स्वर वाद्यों के वादन में ठुमरी और धुन.* नई दिल्ली: संजय प्रकाशन. पृष्ठ 198.

*** प्रकृति से निकटता- खेत, जंगल, वन, उपवन, नदी-नाले, तालाब, पालतू एवं वन्य पशु-पक्षी, विविध ऋतुओं पर अवलंबन**

*** धार्मिक-पौराणिक-सामजिक मान्यताओं का जीवन क्रम में अधिक महत्व**

*** प्रारब्धवादिता**

यद्यपि ग्राम्य संस्कृति में लोकतत्वों का, और उसके आधार पर लोक संस्कृति के विकास के लिए परिपोषक परिवेश होता है और गाँवों में ही लोक संस्कृति के विविध घटकों- भाषा, साहित्य, कला, धर्म, रीती रिवाज, आचार-विचार , जीवनशैली आदि का परमरागत स्वरुप प्राप्त होता है, यह कहना कि शहरों के नागरी परिवेश में 'लोकतत्वों' का पूर्ण रूप से अभाव होता है, ठीक नहीं है | प्राचीन काल से ही अभिजात और लोक संस्कृतियों में आदान-प्रदान चलता आया है | आधुनिक काल में आवागमन के साधनों के विकास के चलते भौगोलिक अंतर तय करने के लिए पहले की अपेक्षा काफी कम समय लगता है | ऐसे में गाँवों का भी विकास होता हुआ हम देख सकते हैं | काफी बड़ी मात्रा में ग्राम्य जनसंख्या नगरों में बसने के लिए स्थानान्तरण की क्रिया करती है | दूसरी ओर कुछ शहरों के निवासी पुन: अपने मूल-परम्पराओं के निकट जाने के लिए गाँवों की तरफ रुख करते हैं | इन्ही सब गतिविधियों के कारण ग्राम्य और नागरी शिष्ट संस्कृतियों में हमेशा से ही सांस्कृतिक तत्वों का आदान-प्रदान होता रहता है | इस बात को ध्यान में लिया जाय तो, आधुनिक युग में केवल 'ग्राम्य संस्कृति' को ही 'लोक तत्वों' से युक्त कहना थोडासा असंगत लगता है | इसी के सन्दर्भ में **डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी** का विचार यहाँ उद्हृत करना अनुचित न होगा – **" 'लोक' का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम्य' नहीं है बल्कि नगरों और गावों में फैली हुई वह समूची जनता है जिसके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं | ये लोग नगर में परिष्कृत, रूचिसंपन्न और सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं एवं परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारिता को जीवीत रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं उनको उत्पन्न करते हैं |"** [12]

विविध प्रान्तों की भौगोलिक, सामजिक, राजकीय परिस्थियों के चलते वहाँ के 'लोक' के विविध घटकों की विशेषताएँ निर्धारित होती हैं जैसे कि लोककलाएँ, लोकभाषाएँ, लोकसाहित्य, जनसाधारण की जीवन शैली, लोकोत्सव, लोक आहार, लोक मान्यताएँ आदि |

[12] Rai, A. (2001). *Premchand ke upanyason ka loktatvik adhyayan*. Pg. 4. Retrived on February 19, 2019, from http://hdl.handle.net/10603/179821

1.4 भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में लोक संगीत तथा उसके आधार पर निर्धारित 'लोक तत्व'

भारतीय संस्कृति में ललित तथा उपयुक्त कलाओं का बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहा है | भारतीय संस्कृति के परिपेक्ष्य में, कला के 'प्रकृत' और 'परिष्कृत' इन दोनों रूपों में विकास के कारण क्रमश: 'देशी" और "मार्गी" ये दो भेद बने, जो कि आधुनिक काल के क्रमश: 'लोक' और 'शास्त्रीय' की समकक्ष संज्ञाएँ कह सकते हैं | संगीत कला भी प्राचीन कलाओं में से एक कला है जिसके विकास की परंपरा वेदकाल तक मिलतीं है | **डॉ. शरच्चंद्र श्रीधर परान्जपे के मतानुसार** [13], संगीत कला के प्राचीन काल से दो भेद प्रचार में रहे हैं – 1) मार्गी तथा 2) देशी | मार्गी संगीत में शास्त्र को अनुसरित करते हुए नियमों के पालन द्वारा कला की परिष्कृतता तथा अभिजातता पर ध्यान दिया गया है | इसलिए विशिष्ट संस्कार एवं शिक्षा-दीक्षा का अत्यधिक महत्व रहा है | देशी संगीत में शास्त्र पक्ष गौण होकर बहुजन समाज की अभिरुचि का ही अनुसरण किया जाता है | 'लोकाभिरुची' ही निर्णायक तत्त्व होने की वजह से देशी कला सामान्यत: अपेक्षाकृत सहज एवं सुगम होती है | 'मार्गी' एवं 'देशी' परस्पर सापेक्ष संज्ञाएँ हैं | कालक्रम में देशी संगीत के लोकरूप परिष्कृत होकर शास्त्रीय रूप धारण करते हैं और 'मार्गी' संगीत में समाविष्ट हो जाते हैं | वैदिक काल में मार्गी संगीत के अंतर्गत 'सामगान' था और देशी संगीत के अंतर्गत 'गान्धर्व' था | साम गान की परंपरा का वर्णन बहुत से पौराणिक साहित्य में मिलता है | महाभारत काल तक 'गान्धर्व' को 'मार्गी' संगीत का स्थान प्राप्त हो चूका था | प्राचीन काल से लेकर पूर्व मध्य काल तक भारतीय संगीत में केवल एक ही पद्धति का प्रचार था | उत्तर मध्यकाल में विविध राजकीय एवं भौगोलिक परिबलों के कारण भारतीय संगीत 'उत्तर भारतीय'/ 'हिन्दुस्तानी' और 'दक्षिण भारतीय'/ 'कर्नाटकी' संगीत पद्धतियों में विभाजित हो गया | यह विभाजन आधुनिक काल में वर्तमान समय तक प्रचलन में है | उत्तर भारतीय संगीत पद्धति के 'मार्गी' एवं 'देशी' प्रकारों का कालक्रम में क्रमश: 'शास्त्रीय संगीत ' और 'लोक संगीत' ऐसा नामकरण हो चूका है |

'लोक संगीत' का शाब्दिक अर्थ होता है 'लोक का संगीत' यानी कि 'जनसाधारण का संगीत' | किसी प्रदेश के सामान्य तबके के जनसमुदाय द्वारा किसी विशिष्ट शास्त्र के आधार के बिना, विशिष्ट शिक्षा के लिए समय दिए बिना, दिनचर्या या सामाजिक जीवन के भागरूप सहजता से जिस प्रकार के संगीत की रचना हो उसे हम 'लोक संगीत' की संज्ञा दे सकते हैं |

---

[13] शुक्ल श. (1991). *ठुमरी की उत्पत्ति, विकास और शैलियाँ.* नई दिल्ही : हिन्दी माध्यम निदेशालय कार्यन्वय, दिल्ली विश्वविद्यालय. पृष्ठ 63

डॉ. चिंतामणि उपाध्याय के अनुसार, "सामान्य लोकजीवन की पार्श्वभूमीमें अचिन्त्य रूप से अनायास ही निकलनेवाली मनोभावों की लयात्मक अभिव्यक्ति 'लोक गीत' या 'लोक संगीत' कहलाती है।" [14]

लोक संगीत के विषय में विभिन्न विद्वानों के अलग अलग मत कुछ इस प्रकार हैं :

पं. ओमकारनाथ ठाकुर –

देशी संगीत की पृष्ठ भूमि ही लोक संगीत है।

महात्मा गाँधी -

लोक संगीत के बराबर जगत गाता है और नृत्य करता है।

डॉ. राजेंद्र प्रसाद -

आधुनिक जीवन सुन्दर, संपन्न और समृद्ध बनाने के लिए लोक संगीत सहायक सिद्ध होगा।

रविंद्रनाथ टैगोर –

संस्कृति का सुखद सन्देश ले जानेवाली कला है लोक संगीत।

डॉ. प्रभा अत्रे –

Folk music is a natural expression of the human mind and perpetually inspired other types of music. [15] **It has always been a great source of inspiration for art music and has enriched art music in terms of musical material, style, expression and themes.** [16]

लोक संगीत विभिन्न प्रान्तों में प्रादेशिक संस्कृति के अनुरूप भिन्न-भिन्न अवसरों पर जन-मन-रंजन के लिए उपयुक्त होनेवाला संगीत है। लोक संगीत के अंतर्गत लोकगीत, लोकनृत्य और लोकनाट्य के गेय पद आदि का समावेश होता है। लोक संगीत की संगती करने के लिए विविध प्रकार के लोक वादयों- सुषिर,तंतु और लय- का उपयोग होता है। लोक संगीत में प्रयुक्त साहित्य सदैव प्रादेशिक लोकबोलियों में रचित लोक साहित्य रहता है। इस प्रकार साहजिक है कि उपरोक्त सभी लोक कलाएँ एक-दूसरे घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुइ रहती हैं तथा इन्हें एक-दूसरे से पृथ्थक कर पाना असंभव है।

---

[14] उपाध्याय, चिं. (n.d.). *मालवी लोकगीत एक विवेचनात्मक अध्ययन*. पृष्ठ 68

[15] Atre, P. (2000). *Enlightening the Listener Contemporary North Indian Classical Vocal Music Performance*. New Delhi: Munshram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd. Pg. 92.

[16] Atre, P. (2000). *Enlightening the Listener Contemporary North Indian Classical Vocal Music Performance*. New Delhi: Munshram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd. Pg. 102.

लोक संगीत के उद्गम के विषय में विचार किया जाय तो केवल अनुमान से ही काम लेना पड़ेगा | जिस तरह मानव संस्कृति के उद्गम की जड़ें मिलाना अशक्यप्राय लगता है वैसे ही लोक संगीत के उद्गम के बारे में कुछ ठोस प्रकार से कह नहीं सकते | इतना निश्चित है कि जबसे मानव संस्कृति अस्तित्व में है तब से लोक संगीत का भी अस्तित्व रहा है | लोक/ समाज के विविध स्तर के लोगों को विभिन्न अवसरों पर, विविध प्रकार के मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए जब सरल गेय शब्द रचनाओं के साथ सरल और उत्स्फूर्त सांगीतिक साहित्य की आवश्यकता हुई होगी तभी लोक-गीतों और लोक धुनों की निर्मिती हुई होगी | इन लोक-धुनों और गीतों पर नैसर्गिक पद्धति से लयात्मक पदन्यास, करतल ध्वनि, शारीरिक गतिविधियाँ इत्यादि के योग से लोक-नृत्यों की उत्पत्ति हुई होगी | इन लोक-संगीत के रूपों में हर प्रान्त में विशिष्ट प्रकार के स्वरसमूहों वाली लोक-धुनें प्रचलित होती गयीं |

हमारे देश में भिन्न भिन्न प्रदेशों में उन प्रदेशों की प्रादेशिक बोलियों में ही लोक-गीत पाए जाते हैं | गीतों के विषय-वस्तु में प्रदेशानुसार जल-वायु, संस्कृति, जातीय गुण, रहन-सहन इत्यादि के चलते भिन्नता देखने को मिलती है और सांगीतिक सामग्री में भी अंतर आ जाता है | फलस्वरूप हर प्रांत अपना एक विशिष्ट सांगीतिक व्यक्तित्व धारण करता है जो कि उसके लोक-संगीत से झलकता है |

1.5 लोक-संगीत की कुछ विशेषताएँ

1) सामान्य रूप से लोक-धुन 4-5 स्वर में सीमित होती है | क्वचित 6 स्वरों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है |[17]

2) लोक-धुनों में शुद्ध स्वर, कोमल ग और कोमल नि का प्रयोग बहुत विपुलता से होता है | अत: बिलावल, काफी और खमाज थाट के रागों के रूप अधिक मिलते हैं | [18] कुछ भिन्न प्रकार की रसनिश्पत्ति के लिए कोमल रे और कोमल ध का प्रयोग भी कहीं कहीं देखने को मिलता है | इसलिए कहीं भैरव और भैरवी के राग-रूप भी सुनने को मिल जाते हैं |

उत्तर भारत के पहाड़ी प्रदेश के लोक-गीत जिन धुनों में बंधे मिलते हैं उनमें पहाड़ी राग का प्रतिबिम्ब मिलता है | पंजाब के हीर, जुगनी जैसे गीतों के स्वर पारंपरिक तरीके से राग भैरवी या सिंध भैरवी के स्वरों से मिलते हैं | पंजाब के ही लोक-गीत टप्पे पहाड़ी और भैरवी के सुरों में गाये जाते हैं | महाराष्ट्र की लावणी, पोवाडा, ओवी, भारूड आदि की कई धुनों में भैरव, काफी, भैरवी थाट के रागों के दर्शन होते हैं | हरियाणा, उत्तरप्रदेश और

[17] वालिया, सी. रा. (2016). *स्वर वाद्यों के वादन में ठुमरी और धुन.* नई दिल्ली: संजय प्रकाशन. पृष्ठ 249

[18] वालिया, सी. रा. (2016). *स्वर वाद्यों के वादन में ठुमरी और धुन.* नई दिल्ली: संजय प्रकाशन. पृष्ठ 250

बिहार के लोक गीतों में राग पहाड़ी के, खमाज और काफी थाट के रागों के स्वर-समूह मिलते हैं | बंगाल के लोक-संगीत में बाऊल और भटियाली प्रसिद्ध गीत-प्रकार हैं जिनकी धुनें खमाज, काफी और भैरवी जैसे थाटों का प्रतिनिधित्व करती हैं | राजस्थान, गुजरात के लोक-गीतों में भी सारंग, भैरवी, मांड, काफी, खमाज, पहाड़ी जैसे रागों के मिले जुले स्वरुप मिलते हैं | इनके अतिरिक्त शुद्ध स्वरों में बंधी हुई अनेक धुनें हर प्रान्त के लोक-संगीत में दृष्टिगोचर होती हैं |

3) मुख्य राग-रूप के अतिरिक्त अन्य स्वर का अत्यंत सहज प्रयोग भी लोक-धुनों में देखने को मिलता है | अभिजात संगीत के संस्कार न होने के कारण लोक-धुनों में शास्त्रीय रागों का रूप भले ही दृष्टिगत होता हो, किन्तु शास्त्रीय संगीत में राग-स्वरुप पालन के जो कठोर नियम होते हैं उनका लोक-धुनों/ लोक-संगीत में पूर्णत: अभाव होता है | फल स्वरुप राग-रूप की दृष्टी से आगंतुक , किन्तु भाव प्रदर्शन की दृष्टी से अन्यंत नैसर्गिक ऐसे स्वरों का प्रयोग लोक-धुनों में बहुत सामान्य है |

कई लोक-धुनों में शास्त्रीय संगीत के कुछ रागों का स्पष्ट प्रतिबिम्ब मिलता है | यह तो स्पष्ट है की लोक-संगीत की परंपरा आधुनिक शास्त्रीय संगीत से पुरानी ही है | इस कारण हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि लोक-धुनों का अस्तित्व समाज में आधुनिक काल के शास्त्रीय रागों की रचना से पहले से ही है | बाद में जैसे कि हमने आगे चर्चा की है, कालान्तर में परिष्करण की प्रक्रिया में इन्हीं धुनों से कुछ शास्त्रीय रागों का विकास हुआ |उदाहरण., पहाड़ी, सारंग, काफी, खमाज, पिलू, सिन्दूरा, बरवा, सिंध भैरवी, कालिंगडा, भैरवी, देस, झिंझोटी जैसे रागों का विकास विविध प्रान्तों की लोक-धुनों से माना गया है | यद्यपि इन लोक-धुनों को राग-रूपों का बीज माना जाता है, किन्तु ये धुनें स्वयं राग या शुद्ध राग रूप को प्रदर्शित नहीं करती | इसका कारण यह है कि शुद्ध शास्त्रीय रागों की रचना शास्त्रीय संगीत में हुए परिष्करण की प्रक्रिया की देन है | लोक-संगीत की परंपरा में लोक-धुनें उस प्रक्रिया से नहीं गुजरतीं | इसी लिए लोक-संगीत की धुनों में जिन रागों के रूप मिलते हैं उनके अतिरिक्त भी स्वर लगे हुए मिलते हैं | किन्तु स्वरों का यह लगाव बड़ा ही नैसर्गिक प्रतीत होता है , कहीं भी सहजता का ह्रास होता हुआ नहीं जान पड़ता और यही लोक धुनों की सबसे बड़ी विशेषता है- उनका सरल और सहज सांगीतिक ढाँचा |

4) लोक-धुनों के स्वर समय के अनुरूप होते हैं | दिन के अलग-अलग समय के अनुसार स्वर-साम्य दृष्टिगत होता है | [19]

[19] वालिया, सी. रा. (2016). *स्वर वाद्यों के वादन में ठुमरी और धुन.* नई दिल्ली: संजय प्रकाशन. पृष्ठ 250

5) प्रसंगानुरूप लोक-धुनों की स्वर-संगतियाँ बंधी होती हैं | [20] लोक-धुनों की स्वर-रचना इस प्रकार की होती है कि जिस प्रसंग के लिए वह गीत हो, उस प्रसंग के अनुरूप भाव प्रकट हो | उदाहरण., होली या वसंत के वर्णन के गीत में उल्लास और रतिभाव उत्पन्न करे ऐसी- श्रुन्गारकारक स्वर संगतियाँ पाई जाती हैं जबकि कन्या की बिदाई के गीत में करुणरस उत्पन्न करने वाली स्वर संगतियाँ सुनने मिलती हैं |

6) एक ही प्रकार की धुन में एक से अधिक गीतों की रचना की गई दिख सकती है | ऐसे गीतों में कभी कभी केवल शब्द भिन्न होते हैं और कभी कभी शब्दों के साथ-साथ लय में भी भिन्नता हो सकती है | यह एक सामान्य अवलोकन है कि एक ही प्रान्त के एक से अधिक लोक-गीतों के शब्द और लय में तो परिवर्तन होता है, किन्तु जिस धुन में वे गाए या बजाए जाते हैं वह धुन के स्वर एक जैसे ही होते हैं | शास्त्रीय दृष्टी से कहें तो ऐसी लोक-धुनों में विशिष्ट स्वर-संगतियों की पुनरावृत्ति देखि जा सकती है |उदाहरण., पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार की तरफ गई जानेवाले 'चैती' गीतों में कई गीत एक ही प्रकार की धुन में गाए जाते हैं | वैसे ही महाराष्ट्र के 'पोवाडा' गीतप्रकार को गाने के लिए गिनी-चुनी 2-3 धुनें होती हैं | गुजरात में लोक संगीत के एक प्रकार 'दुहा/दोहा ' को गाने के लिए हर बार लगभग एक प्रकार के ही स्वर समूह प्रयुक्त होते हैं |

7) लोक-धुनें अपने आप में विशिष्ट लय लिए आती हैं | हर लोक-धुन में एक विशिष्ट लय निहित होती है | लोक-संगीत में समान भाग की लय अधिक पाई जाती है , यद्यपि विषम भाग की लय का अस्तित्व भी लोक-संगीत की धुनों में दृष्टिगोचर होता है |

8) शास्त्रीय संगीत में गायन प्रक्रिया के नियमन और समय मापन के लिए ताल-प्रणाली अस्तित्व में है | लोक-संगीत में ऐसी व्यवस्थित ताल-प्रणाली का अभाव होता है | लोक-संगीत की धुनें जिन लयों में गाई-बजाई जाती हैं उन्हें निर्धारित करने के लिए केवल मात्राओं की संख्या एवं उनके सबसे सरल विभाग- लय-रूप- ही विचार किये जाते हैं , जैसे कि 2-2-2-2, 3-3-3-3-3, 3-2-2 | धुनों के प्रस्तुतीकरण के समय केवल 'ताली' की संकल्पना की जाती है, 'खाली' का निर्वाह सदैव उचित स्थान पर हो, यह आवश्यक नहीं | [21]

9) लोक-धुनें अधिकतर मध्य या द्रुत लय में पाई जाती हैं | यह एक सामान्य ज्ञान है की विलंबित लय की अपेक्षा मध्य या द्रुत लय में सामान्य मानव-समुदाय को आकर्षित करने की क्षमता अधिक है | मध्य या द्रुत लय को मानव ह्रदय और मस्तिष्क बहुत आसानी से ग्रहण कर सकता है |

---

[20] वालिया, सी. रा. (2016). *स्वर वाद्यों के वादन में ठुमरी और धुन.* नई दिल्ली: संजय प्रकाशन. पृष्ठ 250

[21] सेन, अ. कु. (2005). *भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन.* भोपाल: मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी. पृष्ठ 66

10) लोक गीतों का साहित्य सदैव लोक-भाषाओँ में रचित होता है | हर प्रान्त की लोक-बोलियाँ और लोक भाषाएँ होती हैं | ये बोलियाँ / लोक भाषाएँ उस प्रान्त की नागरी शुद्ध भाषा से अधिक अनौपचारिक स्वरुप की और कभी-कभी भिन्न व्याकरण को लिए आती हैं |

1.6 भारतीय संगीत के सन्दर्भ में 'लोक तत्व'

उपरोक्त विशेषताओं का निर्वाह लोक-संगीत के लगभग सभी प्रकारों में होता हुआ दृष्टीगोचर होता है | आधुनिक काल में आवागमन और प्रचार प्रसार के विकसित साधनों के चलते पारंपरिक लोक संगीत से आधुनिक लोक संगीत का स्वरुप थोडा परिवर्तित हुआ अवश्य है किन्तु उसके मूल तत्व अभी भी उपरोक्त विशेषताएँ ही हैं | इनके आधार पर **संगीत के सन्दर्भ में 'लोक-तत्वों'** को निर्धारित किया जा सकता है –

1) स्वर-रचना में सरलता एवं/ अथवा सहजता |

2) राग-नियमों की शिथिलता या अभाव |

3) प्राथमिक एवं मर्यादित ताल व्यवस्था |

4) मध्य और द्रुत लय का निर्वाह |

5) लोक-साहित्य की भाषा एवं लोक-जीवन से सम्बंधित विषय |

उपरोक्त मुख्य लोक-तत्वों की दृष्टी से 'उपशास्त्रीय विधा ठुमरी' का अध्ययन करने का प्रयत्न इस शोध-कार्य के द्वारा किया गया है |

1.7 शोध कार्य का उद्देश्य

'उपशास्त्रीय विधा ठुमरी : एक लोकतात्विक अध्ययन' इस विषय पर प्रस्तुत शोध कार्य के अंतर्गत ठुमरी विधा से सम्बंधित निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयास किया गया है :

1) वर्तमान समय में 'उपशास्त्रीय विधा ठुमरी' से क्या अर्थ अपेक्षित है ?

2) ठुमरी के मूल कहाँ रहे हैं तथा तीन शताब्दियों के विकास क्रम के दौरान एवं वर्तमान परिस्थिति में ठुमरी के विविध आयामों में क्या परिवर्तन आये हैं ?

3) ठुमरी के सांगीतिक, साहित्यिक और मंच प्रस्तुतीकरण के पक्षों पर 'लोक-तत्वों' का अस्तित्व एवं प्रभाव किस तरह से और कितने प्रमाण में देखने को मिलता है ?

4) ठुमरी विधा के अंतर्गत वर्तमान समय में कौन कौन से गीत प्रकारों का समावेश होने लगा है एवं इस विधा में सम्मिलित होने के पश्चात उनके विविध पक्षों में 'लोक तत्वों' की क्या परिस्थिति है?

1.8 शोध कार्य का परिसीमन

प्रस्तुत शोध कार्य का विस्तार सुनिश्चित और स्पष्ट करने हेतु यहाँ विषय का **परिसीमन** किया गया है :

1) प्रस्तुत विषय के अंतर्गत हमारा लक्ष्य उपशास्त्रीय विधा ठुमरी के अंतर्गत आनेवाले सभी गीत प्रकारों का लोकतात्विक अर्थात् 'लोक तत्वों की दृष्टि से' अध्ययन करना है , ना कि लोक संगीत के सभी प्रकारों का अध्ययन करना |

2) लोक संगीत के वे प्रकार जो कि वर्तमान परिस्थिति में ठुमरी विधा के अंतर्गत उसी शैली में गाये जाते हैं उन्ही का समावेश इस शोध कार्य के अंतर्गत किया गया है |

3) शोध कर्ता की स्नातकोत्तर उपाधि उत्तर हिन्दुस्तानी कंठ्य संगीत- गायन में है | अत: इस शोध कार्य का संदर्भ केवल कंठ्य संगीत से है | वाद्य संगीत एवं नृत्य के सन्दर्भ में इस शोध कार्य में विचार नहीं किया गया है |

1.9 मर्यादाएँ

1) इस शोध कार्य का सन्दर्भ केवल कंठ्य संगीत से होने से ठुमरी विधा के वाद्य संगीत और नृत्य से सम्बंधित पक्षों पर विचार नहीं हो सका है | परवर्ती दो विषयों में अधिकार हो ऐसी व्यक्ति द्वारा इस दिशा में अधिक शोध-विचार होने का अवकाश है |

2) इस शोध कार्य के लिए ठुमरी विधा की विविध माध्यमों में लिखित रूप में प्रकाशित रचनाओं तथा विविध कलाकारों के ठुमरी रिकॉर्डिंग के अलग अलग दो संग्रह बनाए गए हैं | इसके व्यतिरिक्त YouTube.com जैसी वेबसाईट पर उपलब्ध रिकॉर्डिंग के विपुल भण्डार से भी कुछ सन्दर्भ उपयोग में लाए गए हैं | इन सभी के आधार पर शोध कार्य किया गया है | हो सकता है कि यथाशक्ति प्रयत्न करने के पश्चात् भी प्रकाशित रचनाओं और रिकॉर्डिंग्स का संग्रह पर्याप्त न हो | YouTube.com जैसी वेबसाइट पर प्रति दिन, प्रति घंटे असंख्य प्रकार की नई विडीओ रिकॉर्डिंग सांझा होती रहती हैं और कुछ माहिती वेबसाइट पर से अप्राप्य भी हो जाती है | अत: संभव है कि क्वचित उस स्रोत से मिली माहिती के परिक्षण में शायद द्विधा हो |

यदि इस शोध कार्य के लिए जितनी रचनाओं का संग्रह किया गया है उससे भी अधिक रचनाओं का यदि संग्रह करके उसके आधार पर यदि आगे शोध हो तब मिलनेवाले परिणाम कदाचित अधिक विस्तृत हों सकते हैं।

****